RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-05
Issue-08
August-2020

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[Peer Reviewed Journal]
DOI:https://doi.org/10.31305/rrijm.2020.v05.i08.033

मध्यकालीन भारत में वर्णित समाज

Dr. Shashi Kiran

Associate Professor (History) CISKMV Fatehpur Pundri, Kaithal (Haryana)

ARTICLE DETAILS

Article History
Published Online: 17August 2020

Keywords
वर्ण-व्यवस्था वैदिक काल रंग-भेद

ABSTRACT

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो समाज के विभाजन के रूप में वैदिक काल से लेकर वर्तमान तक समस्त भारत में निरन्तर विद्यमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज को वर्णों में विभाजित किया गया था। इस विभाजन का मुख्य आधार रंग-भेद अथवा प्रजातीय विविधता ही थी। यद्यपि वैदिक कालीन समाज के इस विभाजन के अन्तर्गत यह व्यवस्था भी थी कि कोई भी व्यक्ति कार्य-पद्धति, रुचि और मन:स्थिति के अनुसार अपना वर्ण-परिवर्तन कर सकता था, किन्तु ऐसा व्यवहारिक रूप से सरल भी नहीं था। किन्तु उत्तरवैदिक काल के परवर्ती युग तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था का यह लचीलापन भी समाप्त हो गया। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'चुनना' अथवा 'वरण करना'। 'वर्ण' और 'वरण' शब्दों में समानता भी यही दर्शाती है। संभवत: 'वर्ण' से तात्पर्य 'वृत्ति' अर्थात् किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से है।

भूमिका

समाजशास्त्रीय भाषा में 'वर्ण' का अर्थ 'वर्ग' से सम्बन्धित है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से सम्बद्ध है। वास्तव में 'वर्ण' शब्द उस सामाजिक वर्ग को परिभाषित करता है जिसका समाज में अपना विशिष्ट कार्य और स्थान है तथा जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा भिन्न होता है तथा अपने हितों तथा स्थितियों के विषय में जागरूक होता है। 'वर्ण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्ववैदिक युग की समाज-रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को प्रकट करता है। इसमें 'वर्ण' का प्रयोग 'रंग' अथवा 'आलोक' के अर्थ के रूप में हुआ है। इसमें कई स्थानों पर ऐसे वर्गों के लिए भी 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिनके शरीर की त्वचा श्याम (काला) अथवा श्वेत थी। ऋग्वैदिक समाज में दो ही वर्ण थे, एक 'आर्य' और दूसरा 'अनार्य' अथवा 'दास' (दस्यु)।[1] सम्भवत: यह अत्यन्त प्रारम्भ की सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें शरीर की त्वचा को ही वर्ण भेद का आधार माना गया था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में 'आर्य' और 'दास' (अनार्य) की भिन्नता 'वर्ण' के रूप में वर्णित की गई है।

अधिकांश विद्वानों के अनुसार आर्य आक्रमणकारी के रूप में बाहर से भारत में आए थे। उन्होंने भारतीय हड़प्पा संस्कृति के निवासियों को पराजित करके उन्हें 'दास' बनाया। आर्यों तथा यहाँ के मूल निवासियों के रक्त, रंग, भाषा, आचार-विचार और रहन-सहन में अन्तर था। इसके अतिरिक्त दोनों वर्णों में जन्मजात, रक्तगत, शरीरगत और संस्कारगत प्रजातीय भेद भी था। दोनों के कर्म भी अलग-अलग थे। अत: तत्कालीन समाज में स्पष्ट रूप से 'आर्य' और 'दास' नामक दो वर्ण बन गए। वैदिक युग के प्रारंभिक काल तक इनका अलग-अलग अस्तित्व बना रहा। आर्य और दास के रूप में दो प्रधान प्रतिस्पर्धी वर्ग अस्तित्व में आ चुके थे। यह वर्गीकृत भेद उनकी प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नता का प्रतीक था। दोनों वर्ग परस्पर विरोधी थे। आरम्भ में उनमें लम्बा संघर्ष भी चला। इसके साहित्यिक एवं पुरातात्विक

RRIJM 2015, All Rights Reserved

प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ऋग्वैदिक ऋचाओं में दासों के हारने और आर्यों के जीतने का उल्लेख है। सम्भवतः उत्तरवैदिक काल तक आते-आते आर्य और अनार्यों (दास) का विरोध और संघर्ष समाप्त सा हो गया क्योंकि उत्तर वैदिक साहित्य में चातुर्वर्ण का उल्लेख मिलता है। विजित अनार्यों का दास होना और अपने परिवारों के साथ विजेता आर्यों की सेवा करना स्वाभाविक था। इससे हड़प्पा और आर्य संस्कृतियाँ सम्मिश्रित होने लगी। आर्यों ने अपनी संस्कृति और रक्त-शुद्धता को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण समाज का पुनर्गठन किया और चार वर्णों की व्यवस्था की- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शूद्र के अंतर्गत उन्होंने समस्त दास अथवा अनार्य वर्ग को सम्मिलित किया जबकि प्रारम्भिक तीनों वर्णों में 'आर्यों' को वर्गीकृत किया। समाज-संगठन के इस नए स्वरूप से ही आर्य संस्कृति लम्बे समय तक अक्षुण्ण बनी रही। यद्यपि हड़प्पा की अनार्य संस्कृति आर्य संस्कृति से प्रभावित होने लगी तथापि अनार्यों की मूल प्रवृत्ति और संस्कृति अपनी कुछ निम्नस्तरीय संस्कृति को नहीं परिवर्तित कर सकी। उनकी कुछ निम्न और घृणास्पद परम्पराएँ बनी रहीं, जिससे वे सदैव आर्यों से पृथक् और निम्न बने रहे। फलतः आर्यों की सामाजिक व्यवस्था कठोर, नियमबद्ध और रूढ़िबद्ध होने लगी। समाज में ऐसे अनेक नियम और निर्देशों की व्यवस्था की गई जिनसे दोनों वर्ण आपस में संयुक्त न हो सकें। आर्य संस्कृति अपने मूलभूत स्वरूप में इसी सामाजिक व्यवस्था के कारण स्वयं को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हुई। वैदिककालीन भारतीय समाज में प्रचलित इस वर्ण व्यवस्था का अस्तित्व कालान्तर में और भी कठोर होता चला गया। यद्यपि बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय एवं प्रसार से इसमें शिथिलता अवश्य आई तथापि इसका अस्तित्व यथावत् रहा। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों तक आते-आते वर्ण व्यवस्था पूर्ण रूप से जन्म और वंश पर आधारित हो गई। अर्थशास्त्र में चारों वर्णों ओर उनके वर्णगत कर्मों का उल्लेख है। अशोक के पांचवे शिलालेख में भिक्षुओं, ब्राह्मणों, इभ्यों और गृहस्थों, अनाथों तथा धर्मगामियों की सुरक्षा तथा सुख के लिए महामात्र नियुक्त करने का उल्लेख है। स्मृतियों में भी वर्ण व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख है। मनु के अनुसार लोक-वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने अपने मुख, उदर, उरू और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न किए।

पुराणों में भी वर्ण व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख है। शुंग-सातवाहन काल में इस व्यवस्था में अभिवृद्धि हुई। नासिक अभिलेख के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णी ने वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण स्थापना ही नहीं की बल्कि वर्ण संकरता को भी रोका। मनु और याज्ञवल्क्य ने वर्ण विभाजन की नई व्यवस्थाएं निर्धारित कीं। हर्षकालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन ने वर्णाश्रम व्यवस्था को स्थिर रखा था। सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत यात्रा करने वाले चीनी बौद्ध भिक्षु ह्वेनसांग ने भी तत्कालीन समाज में प्रचलित परम्परागत चार्तुवर्णों का उल्लेख किया है तथा उनके प्रधान कर्मों का भी वर्णन किया है। हर्षचरित के अनुसार हर्ष ऐसा शासक था जो मनु के समान वर्णों एवं आश्रमों के सभी नियमों का पालन करता था। श्री कण्ठ जनपद में वर्ण सम्बन्धी नियम सर्वदा संकीर्ण नहीं थे।

मध्यकालीन विचारशील शास्त्रकारों मेधातिथि, कुल्लुक, विश्वरूप, अपरार्क आदि ने शास्त्रकारों ने वर्ण व्यवस्था की जीवन्तता को बनाए रखने में अपना योगदान दिया एवं इसकी विस्तृत व्याख्याएं कीं। मध्यकालीन साहित्यिक रचनाएं भारत की सामाजिक दशा पर समुचित प्रकाश डालती हैं। ये तत्कालीन समाज के विभिन्न आयामों का वांछित रूप से वर्णन करती हैं। मध्यकालीन विदेशी लेखक अल इदरीसी तथा अलबीरूनी ने अपनी कृतियों में भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण व्यवस्था का उल्लेख किया है। यद्यपि इनसे पूर्व नवीं शती में बगदाद निवासी ईब्न खुर्दाज्बा ने भी भारतीय समाज को सात जातियों में विभाजित बताया है। अल इदरीसी ने भी ईब्न खुर्दाज्बा की भांति भारतीय समाज का विभाजन सात जातियों में किया है। ये जातियां थी- शखतरीय, बराहम (ब्राह्मण), कस्तरी (खत्री), शूदर (शूद्र), वैश (वैश्य), शन्दाल (चण्डाल) और जम्ब (डोम)। उसके अनुसार शखतरीय समाज का सर्वोच्च राजन्य वर्ग था। जिसके समक्ष समाज की अन्य सभी जातियों के लोग नतमस्तक होते थे जबकि ये किसी के सामने नहीं झुकते थे। शासन की समस्त शक्तियां इनके पास थी। दूसरे, बराहम (ब्राह्मण) थे जो किसी भी प्रकार के मादक द्रव्यों

RRIJM 2015, All Rights Reserved

का सेवन नहीं करते थे। तीसरे, कस्तरी (क्षत्रिय) थे जो केवल तीन प्याले तक मदिरा का सेवन करते थे। बराहम (ब्राह्मण) इनकी कन्या से विवाह कर सकते थे। चौथे, शूदर (शुद्र) थे जो कृषि करते थे। पांचवे, वैश (वैश्य) थे जो कारीगरी तथा व्यापारिक कार्यों में संलग्न थे। छठे, शन्दाल (चण्डाल) थे जिनका व्यवयाय मनोरंजन तथा संगीत कार्य था। इदरीसी के अनुसार इनकी स्त्रियाँ बहुत सुन्दर होती थी। सातवें, जम्ब (डोम) कृष्ण वर्ण के थे। इनकी आजीविका गाना-बजाना थी। इब्नखुर्दाज्बा तथा इदरीसी द्वारा वर्णित यह जाति विभाजन मूलत: प्रसिद्ध अब्बासी वजीर याहिया बिन खालिद बरमाकी द्वारा आठवीं शती में भारत भेजे गए प्रतिनिधिमण्डल द्वारा प्रस्तुत की गई सूचनाओं पर आधारित है जिनका अनुसरण कालान्तर के प्राय: सभी मुस्लिम लेखकों ने अक्षरश किया है। उनका उपरोक्त जाति विभाजन प्राचीन यूनानी स्रोतो से प्रेरित प्रतीत होता है जिन्होंने भारतीय समाज को सात व्यवसायपरक जातियों में वर्गीकृत किया है।

किन्तु अलइदरीसी और ईब्न खुर्दाज्बा के विपरीत अलबीरूनी ने तत्कालीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख प्रचलित भारतीय परम्पराओं के आधार पर किया है। उसके अनुसार हिन्दू अपनी जातियों को वर्ण अथवा रंग कहते हैं और वंश वृक्ष की दृष्टि से उनका नाम 'जातक' अर्थात जन्म रखते हैं। ये वर्ण केवल चार हैं। यद्यपि जातियों को 'वर्ण' अथवा 'रंग' संज्ञा अलबीरूनी ने सही दी है किन्तु वंश परम्परा के अनुसार जाति का नाम जातक या जन्म नहीं था। आरम्भ में वर्ण कर्म और गुणों के आधार पर निश्चित हुए किन्तु कालांतर में जन्म के आधार पर उन्हें जाति भी कहा जाने लगा। मध्यकाल में वर्ण का आधार कर्म और गुण न होकर जन्म ही रह गया था। अत: इसीलिए अलबीरूनी ने जातक अथवा जन्म शब्दों का प्रयोग किया है। प्राचीन काल में ही नहीं बल्कि मध्यकाल मे भी भारतीय समाज में चार वर्णों का ही उल्लेख है। भोज परमार ने भी तत्कालीन समाज में चार ही वर्ण कहे हैं। अलबीरूनी का कथन है कि प्राचीन काल में अत्यन्त कर्त्तव्यपरायण राजा जनसाधारण को अनेक श्रेणियों और कार्यों में विभक्त करने में अपना सहयोग देते थे। साथ ही उन्हें एक दूसरे से मिलने और वर्ण कर्म तोड़ने से रोकने का प्रयत्न करते थे। अत: उन्होंने अलग-अलग श्रेणियों के लोगों को परस्पर सम्बन्ध रखने से रोक दिया और प्रत्येक श्रेणी के लोगों को विशेष प्रकार के कार्य और शिल्प कला का कार्य सौंपा। वे किसी भी व्यक्ति को अपने वर्ग का अतिक्रमण करने की आज्ञा नहीं देते थे, जो अपनी श्रेणी के साथ संतुष्ट नहीं था, उन्हें दण्ड दिया जाता था। उसके इस कथन से स्पष्ट है कि समाज के विभाजन में राजन्य वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान था। वह किसी वर्ग को किसी अन्य वर्ग के व्यवसाय और कार्य अपनाने की अनुमति नहीं देता था। अगर कोई उसकी आज्ञा के विरू) कार्य करता था तो उसे दण्डित किया जाता था। धर्मशास्त्रों के नियम इसी श्रेणी में आते है। प्रत्येक वर्ण के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था थी, जिसके अनुरूप प्रत्येक वर्ग अपना-अपना कर्म करता था। किन्तु वर्णगत कर्मों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था । राजा का यह प्रधान कर्तव्य था कि वह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अपरार्क:याज्ञवल्क्यस्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना 1903-4
2. अथर्ववेद : सम्पादक, आर. रौथ और डब्ल्यू. डी. ह्विटने, बर्लिन, 1856, बम्बई 1895-98
3. अत्रि स्मृति : धर्मशास्त्र संग्रह, जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, 1876
4. : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1905
5. आपस्तम्ब गृहसूत्र : सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गर्वनमेंट संस्कृत लाईब्रेरी सिरीज
6. आपस्तम्ब धर्मसूत्र : हरदत्त की टीका सहित, सम्पादक, हलस्यनाथ शास्त्री, बम्बई, 1932
7. आश्वलायन गृहसूत्र : नारायण की टीका सहित, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, 1894

RRIJM 2015, All Rights Reserved

8. ऋग्वेद : सायण भाष्य सहित, (सम्पा.), एफ. मैक्समूलर, द्विव. सं. 1890-92; आर. टी. एच. ग्रिफिथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, लाजरस, वाराणसी, 1896-971 सायण भाष्य सहित, पाँच भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933-51
9. कल्हण : राजतरंगिणी, अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणी, एम. ए. स्टीन, दो भाग, वेस्टमिनिस्टर, 1900; (पुनर्मुदित) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961; आर. एस. पण्डित द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, इलाहाबाद 1935
10. काठक गृहसूत्र : (सम्पा.) डॉ. कलन्द, 1925

RRIJM 2015, All Rights Reserved